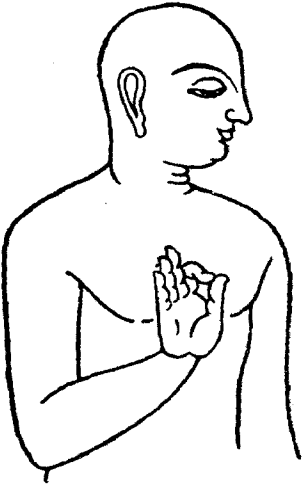




डा० मोहनलाल मेहता
एम० ए०, पी-एच० डी०

जैनाचार की भूमिका

आचार और विचार परस्पर सम्बद्ध ही नहीं एक-दूसरे के पूरक भी हैं। संसार में जितनी भी ज्ञान-शाखाएँ हैं, किसी न किसी रूप में आचार अथवा विचार अथवा दोनों से सम्बद्ध हैं। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ऐसी ज्ञान-शाखाएँ अनिवार्य हैं जो विचार का विकास करने के साथ ही साथ आचार को भी गति प्रदान करें। दूसरे शब्दों में जिन विद्याओं में आचार व विचार, दोनों के बीज मौजूद हों वे ही व्यक्तित्व का वास्तविक विकास कर सकती हैं। जब तक आचार को विचारों का सहयोग प्राप्त न हो अथवा विचार आचार रूप में परिणत न हों तब तक जीवन का यथार्थ विकास नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से आचार और विचार को परस्पर सम्बद्ध एवं पूरक कहा जाता है।

आचार और विचार

विचारों अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप आचार है। आचार की आधारशिला नैतिकता है। जो आचार नैतिकता पर प्रतिष्ठित नहीं है वह आदर्श आचार नहीं कहा जा सकता। ऐसा आचार त्याज्य है। समाज में धर्म की प्रतिष्ठा इसीलिए है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। वास्तव में धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर रही हुई उस भावना के आधार पर ही होती है जिसे हम नैतिकता कहते हैं। नैतिकता का आदर्श जितना उच्च होता है, धर्म की भूमिका भी उतनी ही उन्नत होती है। नैतिकता केवल भौतिक अथवा शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं होती। उसकी दृष्टि में आध्यात्मिक अथवा मानसिक मूल्यों का अधिक महत्त्व होता है। संकुचित अथवा सीमित नैतिकता की अपेक्षा विस्तृत अथवा अपरिमित नैतिकता अधिक बलवती होती है। वह व्यक्तित्व का यथार्थ एवं पूर्ण विकास करती है।

धर्म का सार आध्यात्मिक सर्जन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति है। इस प्रकार के सर्जन अथवा अनुभूति का विस्तार ही धर्म का विकास है। जो आचार इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो वही धर्ममूलक आचार है। इस प्रकार का आचार नैतिकता की भावना के अभाव में संभव नहीं। ज्यों-ज्यों नैतिक भावनाओं का विस्तार होता जाता है त्यों-त्यों धर्म का विकास होता जाता है। इस प्रकार का धर्मविकास ही आध्यात्मिक विकास है। आध्यात्मिक विकास की चरम अवस्था का नाम ही मोक्ष अथवा मुक्ति है। इस मूलभूत सिद्धान्त अथवा तथ्य को समस्त आत्मवादी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है।

दर्शन का सम्बन्ध विचार अथवा तर्क से है, जबकि धर्म का सम्बन्ध आचार अथवा व्यवहार से है। दर्शन हेतुवाद पर प्रतिष्ठित होता है जबकि धर्म श्रद्धा पर अवलम्बित होता है। आचार के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है जबकि विचार के लिए तर्क की। आचार व विचार अथवा धर्म व दर्शन के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारा के अनुसार आचार व विचार अर्थात् धर्म व दर्शन अभिन्न हैं। इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। आचार की सत्यता विचार में ही पाई जाती है एवं विचार का पर्यवसान आचार में ही देखा जाता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार आचार व



विचार अर्थात् धर्म व दर्शन एक-दूसरे से भिन्न हैं. तर्कशील विचारक का इससे कोई प्रयोजन नहीं कि श्रद्धाशील आचरणकर्त्ता किस प्रकार का व्यवहार करता है. इसी प्रकार श्रद्धाशील व्यक्ति यह नहीं देखता कि विचारक क्या कहता है. तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्ति वाले अन्योन्याश्रित दो पक्ष हैं. इन दोनों, पक्षों का संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है. इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का संयुक्त विकास कह सकते हैं जो दुःखमुक्ति के लिए अनिवार्य है.

आचार और विचार की अन्योन्याश्रितता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने धर्म व दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया. उन्होंने तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ आचारशास्त्र का भी निरूपण किया एवं बताया कि ज्ञानविहीन आचरण नेत्रहीन पुरुष की गति के समान है जबकि आचरणरहित ज्ञान पंगु पुरुष की स्थिति के सदृश है. जिस प्रकार अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए निर्दोष आँखें व पैर दोनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए दोषरहित ज्ञान व चारित्र्य दोनों अनिवार्य हैं.

भारतीय विचार-परम्पराओं में आचार व विचार दोनों को समान स्थान दिया गया है. उदाहरण के लिए मीमांसा परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमांसा आचारप्रधान है जब कि दूसरा पक्ष उत्तरमीमांसा (वेदान्त) विचारप्रधान है. सांख्य और योग क्रमशः विचार और आचार का प्रतिपादन करने वाले एक ही परम्परा के दो अंग हैं. बौद्ध परम्परा में हीनयान और महायान के रूप में आचार और विचार की दो धाराएँ हैं. हीनयान आचारप्रधान है तथा महायान विचारप्रधान. जैन परम्परा में भी आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है. अहिंसामूलक आचार एवं अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचारधारा की विशेषता है.

वैदिक दृष्टि

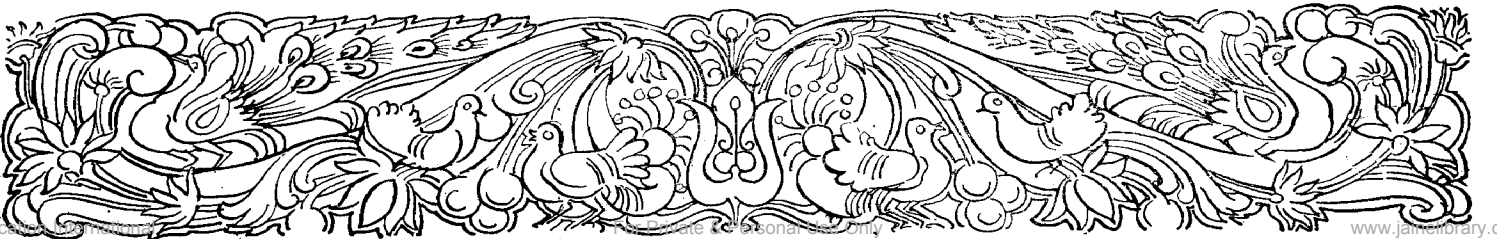
भारतीय साहित्य में आचार के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं. वैदिक संहिताओं में लोकजीवन का जो प्रतिबिम्ब मिलता है उससे प्रकट होता है कि लोगों में प्रकृति के कार्यों के प्रति विचित्र जिज्ञासा थी. उनकी धारणा थी कि प्रकृति के विविध कार्य देवों के विविध रूप थे, विविध देवप्रकृति के विविध कार्यों के रूप में अभिव्यक्त होते थे. ये देव अपनी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के आधार पर उनका हित कर सकते थे और इसलिए लोग उन्हें प्रसन्न रखने अथवा करने लिए उनकी स्तुति करते, उनकी यशोगाथा गाते. स्तुति करने की प्रक्रिया अथवा पद्धति का धीरे-धीरे विकास हुआ एवं इस मान्यता ने जन्म लिया कि अमुक ढंग से अमुक प्रकार के उच्चारणपूर्वक की जाने वाली स्तुति ही फलवती होती है. परिणामतः यज्ञ-यागादि का प्रादुर्भाव हुआ एवं देवों को प्रसन्न करने की एक विशिष्ट आचार-पद्धति ने जन्म लिया. इस आचार-पद्धति का प्रयोजन लोगों की ऐहिक सुख-समृद्धि एवं सुरक्षा था. लोगों के हृदय में सत्य, दान, श्रद्धा आदि के प्रति मान था. विविध प्रकार के नियमों, गुणों, दण्डों आदि के प्रवर्तकों के रूप में विभिन्न देवों की कल्पना की गई.

औपनिषदिक रूप

उपनिषदों में ऐहिक सुख को जीवन का लक्ष्य न मानते हुए श्रेयस् को परमार्थ माना गया है तथा प्रेयस् को हेय एवं श्रेयस् को उपादेय बताया गया है. इस जीवन को अन्तिम सत्य न मानते हुए परमात्म तत्त्व को यथार्थ कहा गया है. आत्म-तत्त्व का स्वरूप समझते हुए इसे शरीर, मन, इन्द्रियों आदि से भिन्न बताया गया है. इसी दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, संतोष, सत्य आदि आत्मिक गुणों का विधान किया गया है एवं इन्हें आत्मानुभूति के लिए आवश्यक बताया गया है. इन गुणों के आचरण से श्रेयस् की प्राप्ति होती है. श्रेयस् के मार्ग पर चलने वाले विरले ही होते हैं. संसार के समस्त प्रलोभन श्रेयस् के सामने नगण्य हैं—तुच्छ हैं.

सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्र

सूत्रों, स्मृतियों व धर्मशास्त्रों में मनुष्य के जीवन की निश्चित योजना दृष्टिगोचर होती है. इनमें मानव-जीवन के कर्तव्य-अकर्तव्यों के विषय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है. वैदिक विधि-विधानों के साथ ही साथ सामाजिक गुणों एवं



आध्यात्मिक विशुद्धियों का भी विचार किया गया है। संक्षेप में कहा जाय तो इनमें मौलिक सुखों एवं आत्मिक गुणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। सूत्रों व धर्मशास्त्रों में मानव-जीवन के चार सोपान-चार आश्रम निर्धारित किये गये हैं। जिनके अनुसार आचरण करने पर मनुष्य का जीवन सफल माना जाता है। इन चार आश्रमों के पारिभाषिक नाम ये हैं :—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम में शारीरिक व मानसिक अनुशासन का अभ्यास किया जाता है जो सारे जीवन की भूमिका का काम करता है। गृहस्थाश्रम सांसारिक सुखों के अनुभव व कर्तव्यों के पालन के लिए है। वानप्रस्थाश्रम सांसारिक प्रपंचों के आंशिक त्याग का प्रतीक है। आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति के लिए सांसारिक सुख-सुविधाओं के हेतु किये जाने वाले प्रपंचों का सर्वथा त्याग करना संन्यासाश्रम है। प्रथम तीन आश्रमों का पर्यवसान संन्यासाश्रम में ही होता है। इन चार आश्रमों के साथ ही साथ चार प्रकार के वर्णों अर्थात् मनुष्यवर्गों का भी निर्धारण किया गया। इन वर्गों के कर्तव्याकर्तव्यों के लिए आचारसंहिता भी बनाई गई। आचार के दो विभाग किये गये : सब वर्णों के लिए सामान्य आचार और प्रत्येक वर्ण के लिए विशेष आचार। जिस प्रकार प्रत्येक आश्रम के लिए विभिन्न कर्तव्यों का निर्धारण किया गया, उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के लिए विभिन्न कर्तव्य निश्चित किये गये, जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय के लिए रक्षण-प्रशासन, वैश्य के लिए व्यापार-व्यवसाय एवं शूद्र के लिए सेवा-शुश्रूषा। इसी व्यवस्था अर्थात् आचारसंहिता का नाम वर्णाश्रमधर्म अथवा वर्णाश्रम-व्यवस्था है।

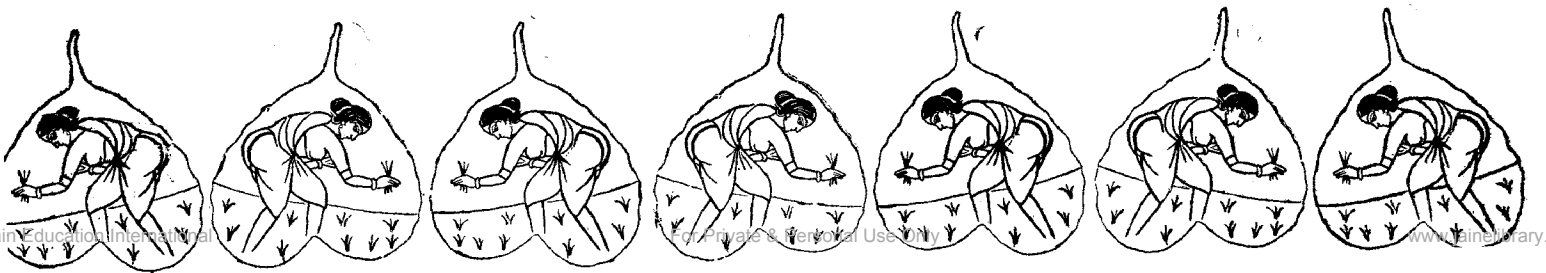
कर्ममुक्ति

भारतीय आचारशास्त्र का सामान्य आधार कर्मसिद्धान्त है। कर्म का अर्थ है चेतनाशक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया का कार्य-कारणभाव। जो क्रिया अर्थात् आचार इस कार्य-कारण की परम्परा को समाप्त करने में सहायक है वह आचरणीय है। इससे विपरीत आचार त्याज्य है। विविध धर्मग्रंथों, दर्शनग्रन्थों एवं आचारग्रन्थों में जो विधिनिषेध उपलब्ध हैं, इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। योग-विद्या का विकास इस दिशा में एक महान् प्रयत्न है, भारतीय विचारकों ने कर्ममुक्ति के लिए ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान का जो मार्ग बताया है वह योग का ही मार्ग है। ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान को योग की ही संज्ञा दी गई है। इतना ही नहीं, अनासक्त कर्म को भी योग कहा गया है। आत्मनियन्त्रण अर्थात् चित्त-वृत्ति के निरोध के लिए योग अनिवार्य है। योग चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसमें मन व इन्द्रियां अपने विषयों से विरत होने का अभ्यास करते हैं। ज्यों-ज्यों योग की प्रक्रिया का विकास होता जाता है त्यों-त्यों आत्मा अपने-आप में लीन होती जाती है। योगी को जिस आनन्द व सुख की अनुभूति होती है वह दूसरों के लिए अलभ्य है। वह आनन्द व सुख बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित नहीं होता अपितु आत्मावलम्बित होता है। आत्मा का अपनी स्वाभाविक विशुद्ध अवस्था में निवास करना ही वास्तविक सुख है। यह सुख जिसे हमेशा के लिए प्राप्त हो जाता है वह कर्मजन्य सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण है।

कर्म से मुक्त होना इतना आसान नहीं है। योग की साधना करना इतना सरल नहीं है। इसके लिए धीरे-धीरे निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है। आचार व विचार की अनेक कठिन अवस्थाओं से गुजरना होता है। आचार के अनेक नियमों एवं विचार के अनेक अंकुशों का पालन करना पड़ता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न आत्मवादी दर्शनों ने कर्ममुक्ति के लिए आचार के विविध नियमों का निर्माण किया तथा आत्मविकास के विभिन्न अंगों तथा रूपों का प्रतिपादन किया।

आत्मविकास

वेदान्त में सामान्यतया आत्मिक विकास के सात अंग अथवा सोपान माने गये हैं। प्रथम अंग का नाम शुभ इच्छा है। इसमें वैराग्य अर्थात् सम्यक् पथ पर जाने की भावना होती है। द्वितीय अंग विचारणारूप है। इसमें शास्त्राध्ययन, सत्संगति तथा तत्त्व का मूल्यांकन होता है। तृतीय अंग तनुमानस रूप है जिसमें इन्द्रियों और विषयों के प्रति अनासक्ति होती



है. इसके बाद की जो अवस्था है उसमें मानसिक विषयों का निरोध प्रारम्भ होकर मन की शुद्धि होती है. इस अवस्था का नाम सत्यापत्ति है. इसके बाद पदार्थभावनी अवस्था आती है जिसमें बाह्य वस्तुओं का मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. सातवां अंग तुरीयगा कहलाता है. इसमें पदार्थों का मन से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता तथा आत्मा का सत् चित् व आनन्दरूप ब्रह्म से एकाकार हो जाता है. यह अवस्था निर्विकल्पक समाधिरूप है.

योगदर्शन का अष्टांग योग प्रसिद्ध ही है. प्रथम अंग यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का समावेश होता है. द्वितीय अंग नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान का समावेश किया जाता है. तृतीय अंग का नाम आसन है. चतुर्थ अंग प्राणायामरूप है. पांचवां अंग प्रत्याहार, छठा धारणा, सातवां ध्यान व आठवां समाधि कहलाता है. निर्विकल्प समाधि आत्मविकास की अंतिम अवस्था होती है, जिसमें आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में अवस्थित हो जाती है.

कर्मपथ

मीमांसा व स्मृतियों आदि में क्रियाकाण्ड पर अधिक भार दिया गया है जबकि सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि आत्मशुद्धि पर विशेष जोर देते हैं. बौद्धों के अनुसार हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—ज्ञात और अज्ञात. इन्हें बौद्ध परिभाषा में विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कहा जाता है. जब कोई व्यक्ति परोक्ष अर्थात् अज्ञात रूप से किसी अन्य द्वारा किसी प्रकार का पापकार्य करता है तो वह अविज्ञप्ति-कर्म करता है. जो जानबूझ कर अर्थात् ज्ञातरूप से पापक्रिया करता है वह विज्ञप्ति कर्म करता है. यही बात शुभ प्रवृत्ति के विषय में भी है. अतः शील भी विज्ञप्ति व अविज्ञप्ति रूप दो प्रकार का है. बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक क्रिया के तीन भाग होते हैं—प्रयोग, कर्मपथ और पृष्ठ. क्रिया की तैयारी करना प्रयोग है. वास्तविक क्रिया कर्मपथ है. अनुगामिनी क्रिया का नाम पृष्ठ है. उदाहरण के रूप में चोरी को लें. जब कोई चोरी करना चाहता है तो अपने स्थान से उठता है, आवश्यक साधन-सामग्री लेता है, दूसरे के घर जाता है, चुपचाप घर में घुसता है, रुपये-पैसे व अन्य वस्तुएं ढूँढता है और उन्हें वहां से उठाता है. यह सब प्रयोग के अन्तर्गत है. चोरी का सामान लेकर वह घर से बाहर निकलता है, यही कर्मपथ है. उस सामान को वह अपने साथियों में बाँटता है, बेचता है अथवा छिपाता है. ये तीनों प्रकार विज्ञप्ति व अविज्ञप्तिरूप होते हैं. इतना ही नहीं, एक प्रकार का कर्मपथ दूसरे प्रकार के कर्मपथ का प्रयोग अथवा पृष्ठ बन सकता है. इसी प्रकार अन्य पापों एवं शुभ क्रियाओं के भी तीन विभाग कर लेने चाहिए. वस्तुतः प्रयोग, कर्मपथ व पृष्ठ प्रवृत्ति की अथवा आचार की तीन अवस्थाएं हैं. इन्हें प्रवृत्ति के तीन सोपान भी कह सकते हैं. किस प्रकार की प्रवृत्ति अर्थात् कर्म से किस प्रकार का फल प्राप्त होता है, इसका भी बौद्ध साहित्य में पूरी तरह विचार किया गया है. यह विचार बौद्ध आचारशास्त्र की भूमिकारूप है.

जैनाचार व जैन विचार

जैनाचार की मूल भित्ति कर्मवाद है. इसी पर जैनो का अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद एवं अनीश्वरवाद प्रतिष्ठित है. कर्म का साधारण अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया है. कर्मकाण्डी, यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं. पौराणिक व्रत-नियम आदि को कर्मरूप मानते हैं. जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है—द्रव्यकर्म व भावकर्म. कर्मण पुद्गल अर्थात् जड़तत्त्व विशेष जो कि जीव के साथ मिल कर कर्म के रूप में परिणत होता है, द्रव्यकर्म कहलाता है. यह ठोस पदार्थ-रूप होता है. द्रव्यकर्म की यह मान्यता जैन कर्मवाद की विशेषता है. आत्मा के अर्थात् प्राणी के राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् चित्तवृत्ति को भावकर्म कहते हैं. दूसरे शब्दों में प्राणी के भावों को भावकर्म तथा भावों द्वारा आकृष्ट सूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को द्रव्यकर्म कहते हैं. यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहतः अनादि है. प्राणी अनादि काल से कर्मपरम्परा में पड़ा हुआ है. चैतन्य और जड़ का यह सम्मिश्रण अनादिकालीन है. जीव पुराने कर्मों का विनाश करता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है. जब तक उसके पूर्वोपाजित समस्त कर्म नष्ट नहीं हो जाते-आत्मा से अलग नहीं हो जाते तथा नवीन कर्मों का उपार्जन बंद नहीं हो जाता-नया बंध रुक नहीं जाता तब



तक उसकी भवभ्रमण से मुक्ति नहीं होती। एक बार समस्त कर्मों का नाश हो जाने पर पुनः नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में कर्मोपार्जन का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता। आत्मा की इसी अवस्था का नाम मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण अथवा सिद्धि है। इस अवस्था में आत्मा अपने असली रूप में रहता है। आत्मा का यही रूप जैन-दर्शन का ईश्वर है। परमेश्वर अथवा परमात्मा इससे भिन्न कोई विशेष व्यक्ति नहीं है। जो आत्मा है वही परमात्मा है। 'जे अप्पा से परमप्पा.'

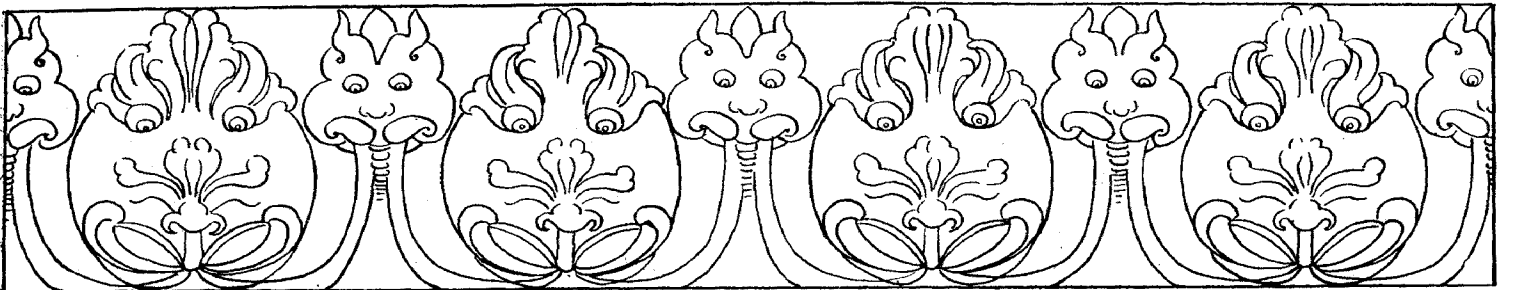
कर्मवाद, नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद नहीं है। कर्मसिद्धान्त यह नहीं मानता कि प्राणी को नियत समय में उपाजित कर्म का फल भोगना ही पड़ता है अथवा नवीन कर्म का उपाजन करना ही पड़ता है। यह सत्य है कि प्राणी को स्वोपाजित कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है किन्तु इसमें उसके पश्चात्कालीन पराक्रम, पुरुषार्थ अथवा आत्मवीर्य के अनुसार न्यूनाधिकता तथा शीघ्रता अथवा देरी हो सकती है। इसी प्रकार वह नवीन कर्म का उपाजन करने में भी अमुक सीमा तक स्वतन्त्र होता है। आन्तरिक शक्ति तथा आचार की परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए व्यक्ति अमुक सीमा तक नये कर्मों के आगमन को रोक सकता है। इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में सीमित इच्छास्वातन्त्र्य स्वीकार किया गया है।

कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति

जैन कर्मवाद में कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं—योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को जैन परिभाषा में योग कहते हैं। दूसरे शब्दों में जैन परिभाषा में प्राणी की प्रवृत्तिसामान्य का नाम योग है। कषाय मन का व्यापारविशेष है। यह क्रोधादि मानसिक आवेगरूप हैं। यह लोक कर्म की योग्यता रखने वाले परमाणुओं से भरा हुआ है। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आस-पास रहे हुए कर्मयोग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है अर्थात् आत्मा अपने चारों ओर रहे हुए कर्म-परमाणुओं को कर्मरूप से ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है। कषाय के कारण कर्मपरमाणुओं का आत्मा से मिल जाना अर्थात् आत्मा के साथ बँध जाना बंध कहलाता है। वैसे तो प्रत्येक प्रकार का योग अर्थात् प्रवृत्ति कर्मबंध का कारण है किन्तु जो योग क्रोधादि कषाय से युक्त होता है उससे होने वाला कर्मबंध दृढ़ होता है। कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मबंध निर्बल व अस्थायी होता है। यह नाममात्र का बंध है। इससे संसार नहीं बढ़ता।

योग अर्थात् प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार कर्मपरमाणुओं की मात्रा में तारतम्य होता है। बद्ध परमाणुओं की राशि को प्रदेश-बन्ध कहते हैं। इन परमाणुओं की विभिन्न स्वभाव रूप परिणति को अर्थात् विभिन्न कार्यरूप क्षमता को प्रकृति-बन्ध कहते हैं। कर्मफल की मुक्ति की अवधि अर्थात् कर्म भोगने के काल को स्थिति-बन्ध तथा कर्मफल की तीव्रता-मन्दता को अनुभाग-बन्ध कहते हैं। कर्म बंधने के बाद जब तक वे फल देना प्रारम्भ नहीं करते तब तक के काल को अबाधाकाल कहते हैं। कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय है। ज्यों-ज्यों कर्मों का उदय होता जाता है त्यों-त्यों कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं। इसी प्रक्रिया का नाम निर्जरा है। जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब उसकी जो अवस्था होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

जैन कर्मशास्त्र में प्रकृति-बन्ध के आठ प्रकार माने गये हैं अर्थात् कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ गिनाई गई हैं। ये प्रकृतियाँ प्राणी को भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—१. ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय—ये चार प्रकृतियाँ घाती कहलाती हैं क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है। शेष चार प्रकृतियाँ अघाती हैं क्योंकि ये किसी आत्मगुण का घात नहीं करतीं। ये शरीर से सम्बन्धित होती हैं। ज्ञानावरणीय प्रकृति आत्मा के ज्ञान अर्थात् विशेष उपयोगरूप गुण को आवृत करती है। दर्शनावरणीय प्रकृति आत्मा के दर्शन अर्थात् सामान्य उपयोगरूप गुण को आच्छादित करती है। मोहनीय प्रकृति



आत्मा के स्वाभाविक सुख में बाधा पहुंचाती है। अन्तराय प्रकृति से वीर्य अर्थात् आत्मशक्ति का नाश होता है। वेदनीय कर्मप्रकृति शरीर के अनुकूल एवं प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख के अनुभव का कारण है। आयु कर्मप्रकृति के कारण नरक, तिर्यच देव एवं मनुष्य भव के काल का निर्धारण होता है। नाम कर्म प्रकृति के कारण नरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति, औदारिकादि शरीर आदि की प्राप्ति होती है। गोत्र कर्मप्रकृति प्राणियों के लौकिक उच्चत्व एवं नीचत्व का कारण है। कर्म की सत्ता मानने पर पुनर्जन्म की सत्ता भी माननी पड़ती है। पुनर्जन्म अथवा परलोक कर्म का फल है। मृत्यु के बाद प्राणी अपने गति नाम कर्म के अनुसार पुनः मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक अथवा देव गति में उत्पन्न होता है। आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुंचा देता है। स्थानान्तरण के समय जीव के साथ दो प्रकार के सूक्ष्म शरीर रहते हैं: तैजस और कामण. औदारिकादि स्थूल शरीर का निर्माण अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुंचने के बाद प्रारम्भ होता है। इस प्रकार जैन कर्मशास्त्र में पुनर्जन्म की सहज व्यवस्था की गई है।

कर्मबन्ध का कारण कषाय अर्थात् राग-द्वेषजन्य प्रवृत्ति है। इससे विपरीत प्रवृत्ति कर्ममुक्ति का कारण बनती है। कर्म-मुक्ति के लिए दो प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक हैं:—नवीन कर्म के उपार्जन का निरोध एवं पूर्वोपाजित कर्मका क्षय। प्रथम प्रकार की क्रिया का नाम संवर तथा द्वितीय प्रकार की क्रिया का नाम निर्जरा है। ये दोनों क्रियाएं क्रमशः आस्रव तथा बन्ध से विपरीत हैं। इन दोनों की पूर्णता से आत्मा की जो स्थिति होती है अर्थात् आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते हैं। यही कर्ममुक्ति है।

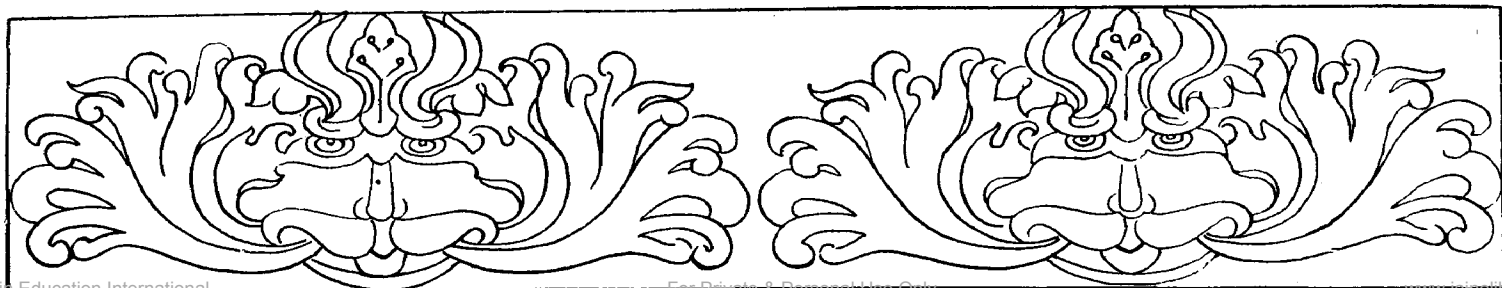
नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध अर्थात् संवर निम्न कारणों से होता है:—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र व तपस्या। सम्यक् योगनिग्रह अर्थात् मन, वचन व तन की प्रवृत्ति का सुष्ठु नियन्त्रण गुप्ति है। सम्यक् चलना, बोलना, खाना, लेना-देना आदि समिति कहलाता है। उत्तम प्रकार की क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शुद्धता आदि धर्म के अन्तर्गत हैं। अनुप्रेक्षा में अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व आदि भावनाओं का समावेश होता है। धुधा, पिपासा, सर्दी, गर्मी आदि कष्टों को सहन करना परीषहजय है। चारित्र, सामायिक आदि भेद से पांच प्रकार का है। तप बाह्य भी होता है व आभ्यन्तर भी। अनशन आदि बाह्य तप हैं, प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप कहलाता है। तप से संवर के साथ-साथ निर्जरा भी होती है। संवर व निर्जरा का पर्यवसान मोक्ष-कर्ममुक्ति में होता है।

आत्मवाद

कर्मवाद का आत्मवाद से साक्षात् सम्बन्ध है। यदि आत्मा की पृथक् सत्ता न मानी जाय तो कर्मवाद की मान्यता निरर्थक सिद्ध होती है। जैन आचारशास्त्र में कर्मवाद के आधारभूत आत्मवाद की भी प्रतिष्ठा की गई है। आत्मा का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है बोधरूप व्यापार। यह व्यापार चैतन्य का धर्म है। जड़ पदार्थों में उपयोग-क्रिया का अभाव होता है क्योंकि उनमें चैतन्य नहीं होता, उपयोग अर्थात् बोध दो प्रकार का है:—ज्ञान और दर्शन। सुख और वीर्य भी चैतन्य का ही धर्म है। इसीलिए आत्मा को अनन्त-चतुष्टयात्मक माना गया है। अनन्त चतुष्टय ये हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। बद्ध अर्थात् संसारी आत्मा में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्रमशः विशेष बोधरूप अनन्त ज्ञान, सामान्य बोधरूप अनन्त दर्शन, अलौकिक आनन्दरूप अनन्त सुख व आध्यात्मिक शक्तिरूप अनन्त वीर्य प्रादुर्भूत होता है। मुक्त आत्मा में ये चार अनन्त-अनन्त-चतुष्टय सर्वदा बने रहते हैं। संसारी आत्मा स्वदेहपरिमाण एवं पौद्गलिक कर्मों से मुक्त होती है, साथ ही परिणमन-शील, कर्त्ता, भोक्ता एवं सीमित उपयोगयुक्त होती है।

अहिंसा और अपरिग्रह

जैनाचार का प्राण अहिंसा है, अहिंसक आचार एवं विचार से ही आध्यात्मिक उत्थान होता है जो कर्ममुक्ति का कारण है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन एवं आचरण जैन परम्परा में उपलब्ध है उतना शायद ही किसी जैनैतर परम्परा में हो। अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है। प्रत्येक आत्मा—चाहे वह पृथ्वी सम्बन्धी हो, चाहे उसका आश्रय जल हो,



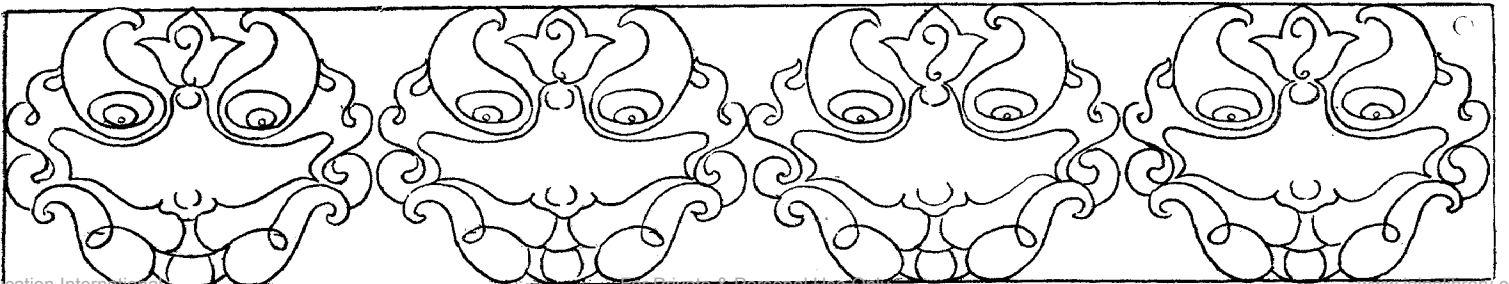
चाहे वह कीट अथवा पतंग के रूप में हो, चाहे वह पशु अथवा पक्षी में हो, चाहे उसका वास मानव में हो—तात्त्विक दृष्टि से समान है। सुख-दुःख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है। जीवन-मरण की प्रतीति सबको होती है। सभी जीव जीना चाहते हैं। वास्तव में कोई भी मरने की इच्छा नहीं करता। जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है एवं मरण अप्रिय, सुख प्रिय है एवं दुःख अप्रिय, अनुकूलता प्रिय है एवं प्रतिकूलता अप्रिय, मृदुता प्रिय है एवं कठोरता अप्रिय, स्वतन्त्रता प्रिय है एवं परतन्त्रता अप्रिय, लाभ प्रिय है एवं हानि अप्रिय, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी जीवन आदि प्रिय हैं एवं मरण आदि अप्रिय। इसीलिए हमारा कर्तव्य है कि हम मन से भी किसी के बध आदि की बात न सोचें। शरीरसे किसी की हत्या करना अथवा किसी को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना तो पाप है ही, मन अथवा वचन से इस प्रकार की प्रवृत्ति करना भी पाप है। मन, वचन और काया से किसी को संताप न पहुँचाना सच्ची अहिंसा है, पूर्ण अहिंसा है। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन विचारधारा की अनुपम विशेषता है। इसे अहिंसक आचार का चरम उत्कर्ष कह सकते हैं। आचार का यह अहिंसक विकास जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है।

अहिंसा को केन्द्रबिन्दु मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन एवं अपरिग्रह का विकास हुआ। आत्मिक विकास में बाधक कर्म-बंध को रोकने तथा बद्ध कर्म को नष्ट करने के लिए अहिंसा तथा तदाधारित अमृषावाद आदि की अनिवार्यता स्वीकार की गई। इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित निहित है। वैयक्तिक उत्थान एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिए असत्य का त्याग, अनधिकृत वस्तु का अग्रहण तथा संयम का परिपालन आवश्यक है। इनके अभाव में अहिंसा का विकास नहीं हो पाता। परिणामतः आत्मविकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होती है। इन सबके साथ अपरिग्रह का व्रत अत्यावश्यक है। परिग्रह के साथ आत्मविकास की घोर शत्रुता है। जहां परिग्रह रहता है वहां आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, परिग्रह मनुष्य के आत्मपतन का बहुत बड़ा कारण बनता है। परिग्रह का अर्थ है पाप का संग्रह। यह आसक्ति से बढ़ता है एवं आसक्ति को बढ़ाता भी है। इसी का नाम मूर्च्छा है। ज्यों-ज्यों परिग्रह बढ़ता है त्यों-त्यों मूर्च्छा-गृद्धि-आसक्ति बढ़ती जाती है। जितनी अधिक आसक्ति बढ़ती है उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ती है। यही हिंसा मानव-समाज में वैषम्य उत्पन्न करती है। इसीसे आत्मपतन भी होता है। अपरिग्रहवृत्ति अहिंसामूलक आचार के सम्यक् परिपालन के लिए अनिवार्य है।

अनेकान्तदृष्टि

जिस प्रकार जैन विचारकों ने आचार में अहिंसा को प्रधानता दी उसी प्रकार उन्होंने विचार में अनेकान्तदृष्टि को मुख्यता दी। अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। उनमें से किसी एक धर्म का आग्रह न रखते हुए अर्थात् एकान्तदृष्टि न रखते हुए अपेक्षाभेद से सब धर्मों के साथ समान रूप से न्याय करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित् अर्थात् किसी एक अपेक्षा से—किसी एक धर्म की दृष्टि से। वस्तु के अनेक धर्मों अर्थात् अनन्त गुणों में से किसी एक धर्म अर्थात् गुण का विचार उस दृष्टि से ही किया जाता है। इसी प्रकार उसके दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है। इस प्रकार वस्तु के धर्म-भेद से दृष्टि-भेद पैदा होता है। दृष्टिकोण के इस अपेक्षावाद अथवा सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है। चूंकि स्याद्वाद से अनेक धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन या विचार होता है अतः स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद है। इस प्रकार स्याद्वाद व अनेकान्तवाद जैनदर्शनाभित सापेक्षवाद के ही दो नाम हैं।

जैनधर्म में अनेकान्तवाद के दो रूप मिलते हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश का अर्थ है वस्तु के किसी एक धर्म से तदितर समस्त धर्मों का अभेद करके समग्र वस्तु का कथन करना। दूसरे शब्दों में वस्तु के किसी एक गुण में उसके शेष समस्त गुणों का संग्रह करना सकलादेश है। उदाहरणार्थ 'स्यादस्त्येव सर्वम्' अर्थात् कथंचित् सब है ही' ऐसा जब कहा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य जितने भी धर्म हैं, सब किसी दृष्टि से



अस्तित्व से अभिन्न हैं। इसी प्रकार, नास्तित्व आदि धर्मों का भी तदितर धर्मों से अभेद करके कथन किया जाता है। यह अभेद काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार आदि आठ दृष्टियों से होता है। जिस समय किसी वस्तु में अस्तित्व धर्म होता है उसी समय अन्य धर्म भी होते हैं। घट में जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व आदि धर्म भी रहते हैं। अतः काल की दृष्टि से अस्तित्व व अन्य गुणों में अभेद है। यही बात शेष सात दृष्टियों के विषय में भी समझनी चाहिये। वस्तु के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व धर्म का विचार किया जाता है एवं परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व धर्म का। सकलादेश में एक धर्म में अशेष धर्मों का अभेद करके सकल अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का कथन किया जाता है। विकलादेश में किसी एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की उपेक्षा। जिस धर्म का कथन करना होता है वही धर्म दृष्टि के सन्मुख रहता है। अन्य धर्मों का निषेध तो नहीं होता किन्तु प्रयोजनाभाव के कारण उनके प्रति उपेक्षाभाव अवश्य रहता है। विकल अर्थात् अपूर्ण वस्तु के कथन के कारण इसे विकलादेश कहा जाता है। इस प्रकार अहिंसा और अनेकान्तवाद की मूल भित्ति पर ही जैनाचार के भव्य भवन का निर्माण हुआ है।

